श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता पञ्चदशो अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

पञ्चदशोध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः(श्) शाख- मश्वत्थं(म्) प्राहुरव्ययम्।

छन्दां(म्)सि यस्य पर्णानि, यस्तं(वँ) वेद स वेदवित् ॥ 1 ॥

श्री भगवान ने कहा - हे अर्जुन! इस संसार को अविनाशी वृक्ष कहा गया है, जिसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं और शाखाएँ नीचे की ओर तथा इस वृक्ष के पत्ते वैदिक स्तोत्र है, जो इस अविनाशी वृक्ष को जानता है वही वेदों का जानकार है ।

अधश्चोर्ध्वं(म्) प्रसृतास्तस्य शाखा,

गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि,

कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ 2 ॥

इस संसार रूपी वृक्ष की समस्त योनियाँ रूपी शाखाएँ नीचे और ऊपर सभी ओर फ़ैली हुई हैं, इस वृक्ष की शाखाएँ प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा विकसित होती है, इस वृक्ष की इन्द्रिय-विषय रूपी कोंपलें है, इस वृक्ष की जड़ों का विस्तार नीचे की ओर भी होता है जो कि सकाम-कर्म रूप से मनुष्यों के लिये फल रूपी बन्धन उत्पन्न करती हैं ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,

नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं(म्) सुविरूढमूल-

मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ 3 ॥

इस संसार रूपी वृक्ष के वास्तविक स्वरूप का अनुभव इस जगत में नहीं किया जा सकता है क्योंकि न तो इसका आदि है और न ही इसका अन्त है और न ही इसका कोई आधार ही है, अत्यन्त दृड़ता से स्थित इस वृक्ष को केवल वैराग्य रूपी हथियार के द्वारा ही काटा जा सकता है ।

ततः(फ्) पदं(न्) तत्परिमार्गितव्यं(यँ),

यस्मिन्गाता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं(म्) पुरुषं(म्) प्रपद्ये,

यतः(फ्) प्रवृत्तिः(फ्) प्रसृता पुराणी ॥ 4 ॥

वैराग्य रूपी हथियार से काटने के बाद मनुष्य को उस परम-लक्ष्य परमात्मा के मार्ग की खोज करनी चाहिये, जिस मार्ग पर पहुँचा हुआ मनुष्य इस संसार में फिर कभी वापस नही लौटता है, फिर मनुष्य को उस परमात्मा के शरणागत हो जाना चाहिये, जिस परमात्मा से इस आदि-रहित संसार रूपी वृक्ष की उत्पत्ति और विस्तार होता है ।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा,

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः(स्) सुखदुःखसञ्ज्ञैर्-

गच्छन्त्यमूढाः(फ्) पदमव्ययं(न्) तत् ॥ 5 ॥

जो मनुष्य मान-प्रतिष्ठा और मोह से मुक्त है तथा जिसने सांसारिक विषयों में लिप्त मनुष्यों की संगति को त्याग दिया है, जो निरन्तर परमात्म स्वरूप में स्थित रहता है, जिसकी सांसारिक कामनाएँ पूर्ण रूप से समाप्त हो चुकी है और जिसका सुख-दुःख नाम का भेद समाप्त हो गया है ऐसा मोह से मुक्त हुआ मनुष्य उस अविनाशी परम-पद परम-धाम को प्राप्त करता हैं ।

न तद्भासयते सूर्यो, न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं(म्) मम ॥ 6 ॥

उस परम-धाम को न तो सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा प्रकाशित करता है और न ही अग्नि प्रकाशित करती है, जहाँ पहुँचकर कोई भी मनुष्य इस संसार में वापस नहीं आता है वही मेरा परम-धाम है ।

ममैवां(म्)शो जीवलोके, जीवभूतः(स्) सनातनः ।

मनः(ष्) षष्ठानीन्द्रियाणि, प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ 7 ॥

हे अर्जुन! संसार में प्रत्येक शरीर में स्थित जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है, जो कि मन सहित छहों इन्द्रियों के द्वारा प्रकृति के अधीन होकर कार्य करता है।

शरीरं(यँ) यदवाप्नोति, यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि सं(यँ)याति, वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ 8 ॥

शरीर का स्वामी जीवात्मा छहों इन्द्रियों के कार्यों को संस्कार रूप में ग्रहण करके एक शरीर का त्याग करके दूसरे शरीर में उसी प्रकार चला जाता है जिस प्रकार वायु गन्ध को एक स्थान से ग्रहण करके दूसरे स्थान में ले जाती है ।

श्रोत्रं(ञ्) चक्षुः(स्) स्पर्शनं(ञ्) च, रसनं(ङ्) घ्राणमेव च।

अधिष्ठाय मनश्चायं(वँ्), विषयानुपसेवते ॥ 9 ॥

इस प्रकार दूसरे शरीर में स्थित होकर जीवात्मा कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन की सहायता से ही विषयों का भोग करता है ।

उत्क्रामन्तं(म्) स्थितं(वँ्) वापि, भुञ्जानं(वँ्) वा गुणान्वितम्।

विमूढा नानुपश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ 10 ॥

जीवात्मा शरीर का किस प्रकार त्याग कर सकती है, किस प्रकार शरीर में स्थित रहती है और किस प्रकार प्रकृति के गुणों के अधीन होकर विषयों का भोग करती है, मूर्ख मनुष्य कभी भी इस प्रक्रिया को नहीं देख पाते हैं केवल वही मनुष्य देख पाते हैं जिनकी आँखें ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो गयी हैं ।

यतन्तो योगिनश्चैनं(म्), पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो, नैनं(म्) पश्यन्त्यचेतसः ॥ 11 ॥

योग के अभ्यास में प्रयत्नशील मनुष्य ही अपने हृदय में स्थित इस आत्मा को देख सकते हैं, किन्तु जो मनुष्य योग के अभ्यास में नहीं लगे हैं ऐसे अज्ञानी प्रयत्न करते रहने पर भी इस आत्मा को नहीं देख पाते हैं ।

यदादित्यगतं(न्) तेजो, जगद्भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ, तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ 12 ॥

हे अर्जुन! जो प्रकाश सूर्य में स्थित है जिससे समस्त संसार प्रकाशित होता है, जो प्रकाश चन्द्रमा में स्थित है और जो प्रकाश अग्नि में स्थित है, उस प्रकाश को तू मुझसे ही उत्पन्न समझ ।

गामाविश्य च भूतानि, धारयाम्यहमोजसा ।

पुष्णामि चौषधीः(स्) सर्वाः(स्), सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ 13 ॥

मैं ही प्रत्येक लोक में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सभी प्राणीयों को धारण करता हूँ और मैं ही चन्द्रमा के रूप से वनस्पतियों में जीवन-रस बनकर समस्त प्राणीयों का पोषण करता हूँ ।

अहं(वँ) वैश्वानरो भूत्वा, प्राणिनां(न्) देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः(फ्), पचाम्यन्नं(ञ्) चतुर्विधम् ॥ 14 ॥

मैं ही पाचन-अग्नि के रूप में समस्त जीवों के शरीर में स्थित रहता हूँ, मैं ही प्राण वायु और अपान वायु को संतुलित रखते हुए चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ ।

सर्वस्य चाहं(म्) हृदि सन्निविष्टो-

मत्तः(स्) स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं(ञ्) च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो,

वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ 15 ॥

मैं ही समस्त जीवों के हृदय में आत्मा रूप में स्थित हूँ, मेरे द्वारा ही जीव को वास्तविक स्वरूप की स्मृति, विस्मृति और ज्ञान होता है, मैं ही समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य हूँ, मुझसे ही समस्त वेद उत्पन्न होते हैं और मैं ही समस्त वेदों को जानने वाला हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः(स्) सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ 16 ॥

हे अर्जुन! संसार में दो प्रकार के ही जीव होते हैं एक नाशवान और दूसरे अविनाशी, इनमें समस्त जीवों के शरीर तो नाशवान होते हैं और समस्त जीवों की आत्मा को अविनाशी कहा जाता है ।

उत्तमः(फ्) पुरुषस्त्वन्यः(फ्), परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य, बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ 17 ॥

परन्तु इन दोनों के अतिरिक्त एक श्रेष्ठ पुरुष है जिसे परमात्मा कहा जाता है, वह अविनाशी भगवान तीनों लोकों में प्रवेश करके सभी प्राणीयों का भरण-पोषण करता है ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽह- मक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च, प्रथितः(फ्) पुरुषोत्तमः ॥ 18 ॥

क्योंकि मैं ही क्षर और अक्षर दोनों से परे स्थित सर्वोत्तम हूँ, इसलिये इसलिए संसार में तथा वेदों में पुरुषोत्तम रूप में विख्यात हूँ ।

यो मामेवमसम्मूढो, जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्भजति मां(म्), सर्वभावेन भारत ॥ 19 ॥

हे भरतवंशी अर्जुन! जो मनुष्य इस प्रकार मुझको संशय-रहित होकर भगवान रूप से जानता है, वह मनुष्य मुझे ही सब कुछ जानकर सभी प्रकार से मेरी ही भक्ति करता है ।

इति गुह्यतमं(म्) शास्त्र- मिदमुक्तं(म्) मयानघ ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्- कृतकृत्यश्च भारत ॥ 20 ॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह शास्त्रों का अति गोपनीय रहस्य मेरे द्वारा कहा गया है, हे भरतवंशी जो मनुष्य इस परम-ज्ञान को इसी प्रकार से समझता है वह बुद्धिमान हो जाता है और उसके सभी प्रयत्न पूर्ण हो जाते हैं ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे

पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।